दशम सर्ग

मन्थन

कर्ण

(रूपमाला छन्द)

यहाँ बैठा मैं शिविर में बना निष्क्रिय आज।
खीझता पुरुषत्व आती वीरता को लाज।
निष्प्रयोजनता नहीं इतनी हुई अनुभूत।
नहीं पहले कभी तड़पा सहे दुःख प्रभूत[1] ॥1॥

मुझे सन्तत[2] करें निन्दित भीष्म जैसे आर्य।
कौन कारण मूल में है प्रश्न यह सुविचार्य।
योग्यता की सिद्धि का भी नहीं अवसर एक।
क्षत्रियेतर[3] के लिए बस घृणा का अतिरेक[4] ॥2॥

रहा परम समर्थ बैठा आज क्यों असहाय।
खोज पाती धी[5] नहीं दुःख से निवृत्ति उपाय।
देखता बस दूर से रण को झुकाता शीश।
जूझते कुरुराज हित कैसे असंख्य महीश[6] ॥3॥

प्रथम दिन के युद्ध का नायक असंशय श्वेत।
वीर वह पांचाल पति है कीर्ति जिसकी श्वेत।
अनगिनत सैन्धव कुलिंद कलिङ्ग कटते देख।
भीष्म ने वपु से मिटाया चेतना का लेख ॥4॥

---

1. प्रचुर; 2. लगातार; 3. क्षत्रिय भिन्न; 4. आधिक्य; 5. बुद्धि; 6. राजा।

नवयुवक उत्तर गिरा पर हुए नतशिर शल्य।
नहीं जय हो सफलता या पराजय वैफल्य।
दूसरे दिन फिर हुआ कुछ उग्रतर संग्राम।
मिटाया सात्यकि, पितामह सारथी का नाम ॥5॥

तीसरे दिन पितामह ने किया रण अतिघोर।
पाण्डवों का नहीं चलता देखते कुछ जोर।
छोड़ वल्गा[1] हाथ से प्रभु बढ़े ले रथचक्र।
भूलकर अपनी प्रतिज्ञा कर भृकुटि को वक्र ॥6॥

और चौथे दिन मचायी प्रलय गजदल बीच।
गदा के आघात से मस्तक रुधिर से सींच।
काल सा फिरता रणाँगण में महाबल भीम।
सुयोधन उससे भिड़ा था वैरभाव असीम ॥7॥

सुयोधन ने किया उसको गदा मार अचेत।
किन्तु क्षणभर बाद ही वह हुआ पुनः सचेत।
उमड़ फिर वह पड़ा जैसे तरङ्गायित सिन्धु।
पराक्रम की बाढ़ में दश बहे कौरव बन्धु ॥8॥

विलोका पंचम दिवस भूरिश्रवा सुप्रताप।
दश तनय यमलोक भेजे बढ़ा सात्यकि ताप।
फिर भिड़े वे वीर दोनों कर महा हुँकार।
गूँजती नभ में निरन्तर शस्त्रकृत झङ्कार ॥9॥

पराजय तट पर खड़ा था आज सात्यकिवीर।
पार्थ ने तब प्रखर छोड़ा दूर ही से तीर।
भुजा भूरिश्रवा की क्षण में हुई थी छिन्न।
देख इस दुर्नीति को मन बहुत होता खिन्न ॥10॥

---

1. घोड़ों की लगाम।

और बैठा क्षुब्ध हो वह जब लगाकर ध्यान।
सात्यकी का खड्ग निकला छोड़ अपना म्यान।
ध्यानरत भूरिश्रवा का काट डाला शीश।
कर रहे हैं कृत्य ऐसे अवनि पर अवनीश[1] ॥11॥

छठे दिन बल की छटा में था अतीव निखार।
वृकोदर[2] पुरुषार्थ का ही आ गया ज्यों ज्वार।
द्रोण द्रोणाङ्गज[3] किए फिर शल्य भी रथहीन।
चेतना मम मित्र की कुछ क्षणों को ली छीन ॥12॥

देखकर उसका पराक्रम हुआ चिन्तामग्न।
किस सरलता से किए उसने सभी रथ भग्न।
क्रूर सह आघात मूर्छित हुए थे कुरुराज।
गए ले गुरुपुत्र[4] रण से उन्हें बाहर आज ॥13॥

आठवें दिन रात्रि में कुरुराज आए पास।
व्यग्र अति मन में शिविर में छोड़ते उछ्वास।
शकुनि मामा भी पधारे थे सखा के साथ।
बड़े आग्रह से कहा फिर पकड़ मेरा हाथ ॥14॥

देख लो कट चुकी अब तक सैन्य मम दश लक्ष।
आठ दिन के युद्ध की परिणति यही प्रत्यक्ष।
सखा अब तो हाथ में तुम शस्त्र को लो धार।
कृष्ण भी तो नहीं ढो पाए प्रतिज्ञा भार ॥15॥

आ गया क्षण को अनिश्चय दशा उसकी देख।
प्रतिज्ञा तोड़ूँ न मैं चाहे फिरे विधिलेख।
युद्ध में जब तक पितामह का रहे नेतृत्व।
लड़ नहीं सकता भले तुमसे रहा भ्रातत्व ॥16॥

---

1. राजा; 2. भीम; 3. अश्वत्थामा; 4. अश्वत्थामा।

और नौवें दिन पितामह ने रचा वह व्यूह।
युद्ध होगा अति भयानक था प्रकट मम ऊह।
दृषद्वति सरिता मिली जा रुधिर की थो लीक।
वोर गति पाकर गिरा है आज शत-आनीक ॥17॥

पाण्डवों को पितामह ने दिया अति ही त्रास।
त्वरित गति से हो चला उनकी चमू[1] का ह्रास।
रात्रि को उनके शिविर में गए पाण्डव बन्धु।
क्या हुई चर्चा उमड़ता प्रश्नमय ही सिन्धु ॥18॥

नहीं पाया अरति[2] से जब बहुत देर विराम।
चल उठी मस्तिष्क में चिन्तन क्रिया अविराम।
निकल आए शिविर से वृष[3] भाव में तल्लीन।
भ्रमण करने लगे तम[4] का आवरण था पीन[5] ॥19॥

उच्च वर्गों में बचा है अहं ही बस शेष।
जातियों के मध्य जब इतना अधिक विद्वेष।
विखण्डन इतना सहे कैसे मनुज समुदाय।
देश हित लड़ना बनाया जातिगत व्यवसाय ॥20॥

(सार-छन्द)

आर्यों की बौद्धिकता का क्यों,
इतना हुआ पतन है।
एक वर्ग के हाथ ज्ञान का,
इतना परिसीमन है।
और दूसरा वर्ग करों में,
शस्त्र मात्र धरता है।
तीजा सकल समाज हेतु,
बस अर्थार्जन करता है ॥21॥

---

1. सेना; 2. चिन्ता कष्ट खेद; 3. कर्ण; 4. अन्धकार; 5. घना मोटा।

इस त्रिवर्ग की ही परिचर्या,
बस कर्तव्य अवर का।
अधिकारी केवल शापों का,
वही, त्रिवर्गी[1] वर का।
एक विशिष्टीकरण मात्र,
बन गया जाति कब कैसे।
कर्मों का वह भेद बना,
मनुजों का जाने कैसे ॥22॥

संस्कार प्राणी लाता है,
कुछ तो साथ जनम के।
प्रज्ञासुमन प्रस्फुटित होता,
केवल किन्तु मनन से।
अध्यवसाय महत्ता भी,
सबको स्वीकार्य रही है।
किन्तु आज माता सरस्वती,
क्यों वन्दिनी हुई है ॥23॥

पात्र कुपात्र विवेचन होता,
जाति और वर्गों पर।
दृष्टि नहीं पड़ती क्यों नर के,
गुण पर या कर्मों पर।
यदि कुलीनता ही कर देती,
मानव को अधिकारी।
गुणवानों की संख्या पड़ती,
इस वसुधा पर भारी ॥24॥

---

1. ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य।

नर के गुण की एक नियामक,
पैतृकता यदि होती।
ऋषि विश्रवा[1] कुटुम्ब मध्य,
सुख शान्ति सदा ही होती।
भानुवंश[2] में नहीं उपजते,
अग्निवर्ण[3] से राजा।
कहो मित्र किस लिए हिरण्यक—,
शिपु का घर फिर साजा ॥25॥

जहाँ प्राप्ति ही गुरुतर[4] समझी,
जाती है अर्जन से।
और भोग हो श्रेष्ठ विसर्जन[5],
से भी औ सर्जन[6] से।
परजीविता करी जाती सम्बद्ध,
जहाँ गरिमा से।
सेवा धर्म गिराया जाता,
निन्दित कर महिमा से ॥26॥

जिन पर रक्षा भार करें वे,
अहंकार की रक्षा।
एक मात्र चिन्ता गुरुजन की,
राजपुत्र की शिक्षा।
शुद्धाचरण बुद्धिजीवी ही,
फिरें माँगते भिक्षा।
समालोचना—विष—पायिनि,
लुप्ता हो गयी तितिक्षा[7] ॥27॥

1. एक प्रसिद्ध मुनि रावण के पिता; 2. भगवान राम का वंश; 3. भोगविलासी राजा जो राम की वंश परम्परा में पंद्रहवाँ उत्तराधिकारी हुआ; 4. श्रेष्ठ; 5. त्याग; 6. निर्माण; 7. सहन शक्ति।

जहाँ रीति कह किए गए हैं,
व्यसन बड़े परिभाषित।
धर्मराज-आचार हुआ हो,
समय धर्म से शासित।
परामर्श निष्पक्ष अहेतुक,
होते हों उपहासित।
बन्धुवर्ग से वृत्ति घृणा से,
होती हो अनुशासित ।।28।।

ज्ञेय वस्तु ही समझी जाती,
जिस समाज में नारी।
शस्त्रशक्ति से जीती जाती,
और द्यूत[1] में हारी।
क्या ऐसे समाज से आशा,
अब हम रख सकते हैं।
निश्चित ह्रास विनाशभीषिका,
से क्या बच सकते हैं ।।29।।

मात्र क्रियार्थ[2] बदलते हैं क्या,
उपसर्गों[3] के कारण।
सम्बन्धों के अर्थ बदलते,
होता यह अवधारण[4]।
क्षीण हो रहा क्रमशः प्रत्यय[5],
मानव का मानव में।
पद लोलुप कर जन-विभक्ति[6],
हैं निरत भोग अभिनव में ।।30।।

1. जुआ; 2. क्रियाओं के अर्थ व्याकरण के नियम के अनुसार उपसर्गों के कारण क्रिया के अर्थ बदल जाते हैं; 3. उपसर्ग –हानि कष्ट क्रिया के पूर्व लगने वाले वि० आ० पा आदि 22 उपसर्ग; 4. ज्ञात होना; 5. विश्वास; 6. लोगों में बँटवारा।

जब समाज का एक अङ्ग भी,
अभिमर्दित[1] होता है।
सम्पीडन[2] से सदा ताप ही,
अभिवर्धित होता है।
सीमाहीन दबाब एक अणु,
भी न सहन करता है।
होकर स्वयं विखण्डित सविता[3],
का प्रताप धरता है ॥31॥

राजनीति में राजनीति का,
हुआ आज बस सपना।
एक महत्वाकाँक्षा अपनी,
और न कोई अपना।
राजनेति ही इसे कहूँगा,
कहीं न कोई इति है।
कपट और षड्यंत्र प्रसविनी[4],
बनीं आज यह दिति[5] है ॥32॥

चिन्तक इस समाज के बेबस,
इतने कभी नहीं थे।
विद्रोही थे और मुखर थे,
इतने मूक नहीं थे।
क्या उपेक्षिता रही कभी,
इतनी भी थी गुणवत्ता।
या मदान्ध मूर्खों की भोग्या,
क्या थी यह प्रभुसत्ता ॥33॥

---

1. पीड़ित; 2. दबाव; 3. सूर्य; 4. उत्पन्न करने वाली; 5. दैत्यों की माता।

निष्ठा और भक्ति से भी,
उर होता नहीं द्रवित है।
गुरुदक्षिणा अपूर्ण रक्त यदि,
होता नहीं स्त्रवित[1] है।
क्या बरसायी कृपा अँगूठा,
माँग भील के सुत का।
क्या ही बढ़ा प्रकाश आर्य,
संस्कृति के दीप्त मुकुट का ।।34।।

अक्षम कर दो प्रतिद्वन्द्वी को,
नीति यही कहती है।
उच्चवर्गजय सदा सुनिश्चित,
इससे ही रहती है।
दूरदर्शिता आर्यद्रोण की,
सचमुच ही अनुपम है।
बने बली यदि दलित परिस्थिति,
होती बड़ी विषम है ।।35।।

करना पड़ा कपट भी कुत्सित,
विद्या के अर्जन को।
मार्ग नहीं था अन्य तोड़ता,
कैसे उस वर्जन को।
जन्म ग्रहण करने पर मानव,
का क्या कोई वश है।
नहीं जन्म से कोई योद्धा,
ज्ञानी या तापस है ।।36।।

1. वहना।

क्यों दुर्भाग्य अग्रगामी है,
सदा सदा से मेरा।
जीवन पथ पर मुझसे पहले,
डाले बैठा डेरा।
लगन भक्ति निष्ठा से मैंने,
आखिर में क्या पाया।
क्रोधित गुरु के क्रूर शाप से,
ही झोली भर लाया ।।37।।

विद्या का परिसीमन निश्चय,
आत्मघात का पथ है।
उच्चवर्ग का सदा इसी में,
रहा निहित स्वारथ है।
शस्त्र शास्त्र पारंगत होकर,
बैठो शिर जनता के।
कहो मात्र हम हैं हितचिन्तक,
सृष्टा हैं समता के ।।38।।

रोकेंगी न प्रगति को क्या,
बातें ये जन जीवन की।
बढ़ती जाती और व्यग्रता,
सोच-सोच कर मन की।
क्या समाज के सभी अंग,
संयोजित हो पाएँगे।
कभी राम फिर बेर भीलनी,
के घर पर खाएँगे ।।39।।

ऐसे गलित तन्त्र से भी तू,
रखता है आशाएँ।
देगा न्याय समाज दूर,
होंगी तेरी विपदाएँ।
तो आशावादिता मूर्खता,
की छूती है सीमा।
दूरी तव कल्पित समाज से,
अब हो चुकी असीमा ॥40॥

क्या फिर लौटाए जा सकते,
सुखद दिवस चम्पा[1] के।
जब थे पात्र प्रकृति की पूरी,
हम भी अनुकम्पा के।
निश्छलता का एक मात्र नाता,
था अखिल जगत से।
वर्तमान में मुदित न चिन्तित,
हम अतीत आगत से ॥41॥

क्रीड़ा की वह भूमि सुविस्तृत,
सिकता[2] तट था अपना।
जहाँ मन्द बहती मन्दाकिनि[3],
अब लगता ज्यों सपना।
प्रतियोगिता वहाँ लम्बी कूदों,
की हम करते थे।
तैराकी में कभी न नद की,
धारा से डरते थे ॥42॥

1. चम्पा नगरी में कर्ण का लालन पालन सूत परिवार में हुआ; 2. रेत;
3. गङ्गा।

पर भय होता था डाटेगी,
घर पर राधा माता।
कभी पिशुनता कर देता था,
छोटा वह मम भ्राता।
कभी ढूंढ़ते थे गुटिकाएँ,
चिकने गोल उपल[1] की।
शंकर की बटिया जब मिलती,
अमित ख़ुशी उस पल की ।।43।।

किसका जाता दूर फेंकते,
थे कंकड़ धारा में।
शोण[2] मोद के हेतु कभी तो,
जान बूझ हारा में।
पीत वर्ण वे मधुर आम्रफल,
बाण लक्ष्य बनते थे।
नीचे खड़े शोण की झोली,
मैं सीधे गिरते थे ।।44।।

मित्रों के त्राणार्थ मत्त वृष,
से लड़ वृष कहलाया।
नायक बन अपनी टोली का,
अपना मन बहलाया।
वहाँ नहीं थे उच्च नीच,
सौहार्द्र और समता थी।
हर गृहिणी की मुझे प्राप्त,
होती रहती ममता थी ।।45।।

1. पत्थर; 2. कर्ण का छोटा भाई।

रथ सञ्चालन अरुचि देखकर,
जनक कुपित होते थे।
किन्तु शस्त्र कौशल पर बल पर,
नित्य मुदित होते थे।
लक्ष्यबेध प्रिय खेल बना था,
किन्तु लक्ष्य क्या पाया।
किन लक्ष्यों को पूर्ति हेतु,
विधि ने है मुझे बनाया ॥46॥

रामचरित सुनकर माता से,
मन प्रमुदित होता था।
त्याग तपस्या विनय शौर्य का,
भाव उदित होता था।
सखा बनाते थे बाँसों से,
जब चम्पा में वंशी।
तब मैं धनुष धार कन्धे पर,
बनता था रघुवंशी ॥47॥

पहली बार बाण जब पाया,
लौह फलक से मण्डित।
चला चलाकर उसे देखता,
पाता मोद अखण्डित।
बार बार में उसे रगड़ता,
उपल[1] शकल[2] पर जाकर।
कहती माता क्या पाओगे,
शर को तीक्ष्ण बनाकर ॥48॥

---

1. पत्थर; 2. टुकड़ा खण्ड।

कभी कभी गिनती करता था,
तट से जलयानों की।
अश्वारोही देख कल्पना,
करता अभियानों की।
हो तटस्थ[1] वणिकों का वैभव,
चम्पा में देखा था।
अब तटस्थ[2] रह देख रहा श्रो,
यह विधि का लेखा था ॥49॥

चूल्हे को फूँकती जननि जब,
सजल नयन होते थे।
उसे याद करता तो व्यंजन,
स्वाद सभी खोते थे।
कभी पीसती थी अनाज वह,
गीत मधुर गा गाकर।
आँख मींच लेता था मैं,
पीछे से चुपके जाकर ॥50॥

आँगन को लीपती कभी थी,
तन्मय राधा माता।
मेरी क्रीड़ा से सद्यः[3],
अभिलिप्त भाग खुद जाता।
कहती थी क्रोधित होकर,
वसु बाहर जाकर खेलो।
मैं कहता गोबर फेंको माँ,
मुझे गोद में ले लो ॥51॥

1. तट पर स्थित; 2. उदासीन; 3. तुरन्त हाल ही का।

टप टप गिरता पानी छत से,
बरसाती रातों में।
कट जाती थी रात कहानी,
कह बातों बातों में।
आलोकित कर जाती सब कुछ,
क्षण को भैरव शम्पा[1]।
नहीं भूल सकता प्यारी है,
बचपन की वह चम्पा ॥52॥

कभी गूँजते उच्च स्वरों में,
नाविक जन के गायन।
नैसर्गिकता का मृदु जिनमें,
होता स्वच्छ रसायन।
कल कल ध्वनि सुरसरिता की,
फिर छप छप पतवारों की।
अब भी आती याद न रुचती,
वीणा दरबारों की ॥53॥

रक्त-चञ्चु[2] की झपट कभी मैं,
अपलक देखा करता।
किस विधि चित्रवर्ण[3] खग क्षण में,
झष[4] को जल से हरता।
एकाग्रता वेग उद्यम समुचित,
अवसर यदि जाना।
सिद्धि वरण करती उस प्राणी,
का सन्तत मनमाना ॥54॥

---

1. विद्युत; 2. कौडिल्ला पक्षी; 3. विचित्र रंगों वाला; 4. मछली।

प्रथम वृष्टि के बाद धरा की,
सौंधी गन्ध लुभाती।
वीरबहूटी दर्शन देतीं छत्र[1],
फसल उग आती।
उस रिमझिम में भी हम सब,
बाहर ही खेला करते।
कभी कभी भीषण घन गर्जन,
से अवश्य थे डरते ॥55॥

महिषवाहिनीं हो जातीं थीं,
कभी बगुलियाँ निर्मल।
हल चालक की बनतीं अनुगामिनी
कभी हो चञ्चल।
सारस युगल देखता रह रह,
नीलकण्ठ की घातें।
अब भी मन:पटल पर चित्रित,
यथारूप सब बातें ॥56॥

जिनका धनुष विराट लुभाता,
मेरे बालक मन को।
जिनके आयुध का गर्जन कम्पित,
करता जन जन को।
सोचा था न स्वप्न में भी,
वासव[2] भू पर उतरेंगे।
कर विचित्र याचना मुझे,
उपकृत इस भाँति करेंगे ॥57॥

1. कुकुरमुत्ता; 2. इन्द्र।

यहाँ कनकमद[1] कृष्ण-मेघ-वत,
मानस पर छाता है।
वहाँ कनक[2] शिव पर अर्पित हो,
भक्ति बढ़ा जाता है।
मात्र देह पर चम्पा में रज,
उड़कर छा जाती है।
यहाँ रजोमय हुए प्राण तक,
छलना भा जाती है ॥58॥

वहाँ सरोवर में थे कैरव[3]
शोभित यहाँ महल में।
उर तक यहाँ लोहमय मिलता,
वहाँ लोह हल फल में।
जीवन भी था खेल वहाँ पर,
क्रीड़ा भी बेचारी।
यहाँ बनी उपकरण स्वार्थ का,
लज्जित होती नारी ॥59॥

रजत[4] नहीं फिर भी राजित था,
निर्मल हास्य वदन पर।
यहाँ न हीरकद्युति भी हरती,
धूमिलता जो मन पर।
वहाँ हृदय का शासन, मन,
मस्तिष्क सदा अनुचर हैं।
यहाँ शासिका बुद्धि बने,
उर परमदीन परिचर हैं ॥60॥

1. स्वर्ण; 2. धतूरा; 3. श्वेत कुमुद; जुआरी, धोखेबाज; 4. चाँदी।

हो वसुहीन विलीन हुआ वसु,
केवल कर्ण बचा है।
नहीं कभी भी इस जन को यह,
नव परिवेश रुचा है।
क्षमा करो हे प्यारी चम्पा,
यहाँ कटक[1] में आकर।
तेरा सुत खो गया तुझे भी,
निज को भी बिसराकर ॥6।॥

चला जभी चम्पा से पितु,
अधिरथके रथपर बैठा।
राधा माता कितनी व्याकुल,
मानो उर था बैठा।
चला तनय था दूर सरलता,
कोमलता छाया से।
जूझेगा नगरीय कुटिलता,
कटुता से माया से ॥61॥

तब क्या था यह भान स्वयं,
जीवन ही मेरा छल है।
छली गई मेरी अबोधता,
इस जग में प्रतिपल है।
जिनके कुछ सिद्धान्त मूर्ख क्या,
जिनका चित्त विमल है।
केवल मिथ्याचार बना क्या,
जीवन का सम्बल है ॥62॥

---

1. राजधानी ।

इस समाज के सर्पों से,
संग्राम कर्ण ठानेगा।
कुछ भी हो परिणाम हार,
वह कभी नहीं मानेगा।
कोई हो अन्याय मुझे प्रति—,
कार सदा करना है।
एक नया उत्साह पीड़ितों,
के उर में भरना है ॥63॥

जो देता मुझको समाज,
प्रतिदान वही देना है।
कोई भी अधिकार माँग कर,
मुझे नहीं लेना है।
नहीं याचना धर्म हेतु यह,
विजय[1] अंस[2] पर धारा।
बने धरा रणभूमि चले,
आजीवन युद्ध हमारा ॥64॥

क्या ऐसे संकल्प कर गए,
बुद्धि नहीं कुछ मैली।
प्रतिक्रिया बन गयी मात्र,
मेरे जीवन की शैली।
जब भी देखा दर्प और,
सुनली कुछ बात विषैली।
मेरे विमल चित्त में भी तो,
बेल द्रोह की फैली ॥65॥

1. विजय धनुष कर्ण का प्रसिद्ध धनुष था; 2. कन्धा।

कौन कहाँ से मैं आया हूँ,
यही सोच वय बीती।
बुद्धि विकल दौड़ती खोजने,
किन्तु लौटती रीती।
भेद न मैंने पाया कुछ भी,
कवच और कुण्डल का।
मैं विशिष्ट, अपवाद मात्र या,
इस वसुधा-मण्डल का ॥66॥

जनक जननि की वत्सलता में,
कहीं न कोई शंका।
मन किस कारण से संशय का,
नित्य बजाता डंका।
दिव्य देह पुरुषार्थ तेज सब,
क्या हैं ये दर्शाते।
बने लक्ष्य जग कौतूहल के,
मात-पिता हर्षाते ॥67॥

गङ्गा माँ से वर स्वरूप मैं,
मिला एक दिन सुनकर।
मेरा बालोचित मन भी फिर,
हिला बहुत कुछ गुनकर।
किया बहुत संकल्प न सोचूँ,
किन्तु भाव यह जागा।
मैं अतिशय हतभाग्य जननि,
मेरी ने मुझको त्यागा ॥68॥

क्या पाऊँगा अन्वेषण से,
सोच कभी दुःख पाता।
क्या न बढ़ेगा खेद जानकर,
कौन जनक मम माता।
त्यागा मुझे प्रथम ही जिनने,
क्या अब सुत मानेंगे।
मिल भी गए भाग्य से मुझको,
क्या अब पहचानेंगे ॥69॥

कभी रोष से भरा कोसता,
वैसी पवि-हृदया को।
जिसने किया सबल निष्कासित,
ममता और दया को।
शिशु का क्रन्दन भी न रोक,
पाया जिसके निश्चय को।
या परलोकभीति से माना,
अधिक लोक के भय को ॥70॥

और विचार कभी मानस में,
ऐसा भी तो आता।
पुत्र कुपुत्र रहे हैं पर क्या,
माता सुनी कुमाता।
दोष-संवलित निश्चय होगा,
मेरा जग में आना।
अशिव निवारण हेतु कदाचित,
मुझको पड़ा बहाना ॥71॥

यदि अवतीर्ण हुआ हूँ जग में,
मात्र अमंगल बनकर।
क्या जाऊँगा पालक के भी,
सभी हितों को हनकर।
धूमकेतु सा उदय हमारा,
इतना शंका—कारक।
क्यों न बनूँ अपने प्राणों का,
मैं ही अब संहारक ।।72।।

लेकिन यह तो परम पाप,
कापुरुषवृत्ति[1] ही होगी।
पालकप्रति कर्तव्यविमुखता,
भी न कर्ण से होगी।
नहीं पलायनवादी पाया,
हठी कर्ण ने मन है।
नियति और पुरुषार्थ युद्ध,
ही मेरा यह जीवन है ।।73।।

रहा विकल परिचय पाने को,
तभी एक दिन दिनकर।
प्रकट हुए मेरे समक्ष दे,
गये ज्ञान करुणा कर।
जाना जब से इस जन के हैं,
जनक प्रभा के आकर[2]।
हँसता हूँ मन ही मन अब,
अपना सम्बोधन सुनकर ।।74।।

---

1. कायर जैसा व्यवहार; 2. भण्डार।

तेज दिया है तात मित्र[1] ने,
क्यों अपमान सहूँगा।
दीन दलित शोषित निरीह,
जन का अब मित्र रहूँगा।
जाना है कुछ तो करके,
आया जब मैं वसुधा पर।
करना है अधिकार सिद्ध,
सबका सम्मानसुधा पर ॥75॥

क्या दौड़े हो किसी आर्त के,
सुनकर दीन वचन को।
क्या प्रतिहिंसाविषविमुक्त,
रख पाए हो निज मन को।
द्यूत भवन के लज्जा दायक,
भूल गए उस क्षण को।
जीता था अधर्म क्षण भर,
जब बिसराया उस पण को ॥76॥

कुरुकुलवधू पुकारी तुम कह,
वैश्या पाँच पती की।
रहे देख निरपेक्ष शिलावत,
अवमानना सती की।
कैसे करते रहे उपेक्षा,
अबला की विनती की।
कहाँ खो गई थी करुणा,
व्रीडा[2] तक इस सुकृती की ॥77॥

1. सूर्य; 2. लज्जा।

सुनकर आर्त पुकार गया था,
कर मेरा भी असि पर।
क्रूर अशोभन लगता देखा,
ग्रहण पूर्ण जब शशि पर।
करने को प्रतिकार देह थी,
आत्मा से आदेशित।
दुःशासन के नीच कृत्य से,
मैं भी था आवेशित ॥78॥

क्या इस श्रेष्ठ सभा में कोई,
क्षत्रिय वीर नहीं है।
क्या ज्याहीन[1] धनुष तरकश में,
क्या अब तीर नहीं हैं।
क्या तन में क्षत्रिय माता का,
अणु भर क्षीर नहीं है।
देख यहाँ लज्जा बिलखाती,
उर में पीर नहीं है? ॥79॥

सुनकर लगा मात्र क्षत्रिय क्या,
शौर्य युक्त होता है।
त्राता बनने का अधिकारी,
केवल वह होता है।
नहीं मिला सौभाग्य जन्मने,
का द्विजाति मैं जिसको।
अबला भी इन विषम क्षणों में,
नहीं बुलाती उसको ॥80॥

1. प्रत्यञ्चा रहित।

आज पुनः मेरे पौरुष की,
होती घोर उपेक्षा।
भीषण विपदा में भी नारी,
नहीं माँगती रक्षा।
एक बार भी द्रुपदसुता यदि,
मुझको कहीं बुलाती।
रक्षा करता मित्र सहोदर,
का भी बनकर घाती ॥81॥

है मित्रता नीति का उसकी,
मैं न रहा अनुयायी।
लाक्षागृह में मुझे पूछकर,
क्या थी आग लगायी।
मित्र भाव की रक्षा करना,
एक मात्र मम प्रण है।
प्रभुसत्ता अधिकार धूल,
भोगों को माना तृण है ॥82॥

(सुन्दरी सवैया)

किस हेतु बना रिपु पाण्डव का,
यह प्रश्न कभी मन बीच विचारा।
अपने मन में रिपुता विषबीज,
सदा परिपोषण हेतु सँवारा।
किस भाँति गहा अतिनिंदित पंथ,
धरा उर में पर का कु-प्रचारा।
सब भूल गया ऋण याद रहा,
इस बोध से क्यों निज को न उबारा ॥83॥

बल विक्रम सह्य नहीं तुझको,
अरि भीम पुरन्दरसूनु बनाए।
अपमानित सा समझा निजको,
अति खेद हुआ निज जाति बताए।
जलता अविराम रहा मन में,
शम दूर रहा बस द्रोह जगाये।
प्रिय मान अभी तक द्वेष सखा,
जिनने बहुधा बहु पाप कराये ॥84॥

याद मुझे काम्पिल्य स्वयंवर,
ज्यों हो घटना कल की।
द्रुपद-राज-दुहिता बोली थी,
ज्यों विषगगरी छलकी।
सूतपुत्र वरणीय नहीं तुम,
रुको लक्ष्यभेदन से।
हो सकती क्या वैसी पीड़ा,
सकल देह छेदन से ॥85॥

सारे नृप समाज के आगे,
लज्जित होकर लौटा।
बना गयी मेरे प्रताप को,
एक जाति ही खोटा।
कितना दुस्सह होता अबला—,
कृत अपमान पुरुष को।
जाति सभी ने पहले पूछी,
पूछा क्या पौरुष को ॥86॥

जब-जब करता निज पौरुष को,
बड़े यत्न से सज्जित।
होना पड़ता हर अवसर पर,
कर्ण तुझे क्यों लज्जित।
कौशलसिद्धि पूर्व ही क्यों,
हर अवसर छिन जाता है।
जातिभेद-प्राचीर-मध्य क्यों,
हर गुण चिन जाता है ॥87॥

दान शीलता भी मेरी कर,
गयी मुझे परिसीमित।
शूरवीरता भी होती है,
वीरश्रेष्ठ से निन्दित।
मेरा पौरुष यहाँ तड़पता,
वहाँ बजे रणभेरी।
कोई उपयोगिता नहीं क्या,
इस जग में प्रभु मेरी ॥88॥

सहनशीलता करवाती है
मुझको क्यों अभिशापित।
न्याय-प्रियत्व मुझे करवाता,
जग में क्यों उपहासित।
बना गयी है ज्ञान-कामना,
मुझको मिथ्या-भाषक।
खड़ा किया विधि ने विपक्ष में,
जो है धर्म-उपासक ॥89॥

शर समान लगती क्यों जग को,
मेरी निस्पृह ऋजुता।
एक न जन पा सका समझता,
जो मम भावप्रवणता।
क्या है मेरा दोष नहीं मैं,
कर पाया अवधारित।
कहाँ न्यूनता रही प्रश्न यह,
सन्तत रहा विचारित ।।90।।

स्मरण उस दिवस का आ रहा है।
खेद मुझको निरन्तर खा रहा है।
दोपहर को महेन्द्राचलविपिन[1] में।
जगी इच्छा विचित्रा मूढ़ मन में ।।91।।

करूँ फिर से सफल मैं शब्दभेदन।
करेगा बाण मेरा मर्मच्छेदन।
शुष्कतातप्त हो अटवी[2] खड़ी थी।
पर्ण की राशियाँ बिखरी पड़ीं थीं ।।92।।

तदपि घनकुञ्ज छाया दे रहे थे।
विहग विश्राम उनमें ले रहे थे।
पवन सन्तप्त हो मन्थर हुआ था।
महानीरव[3] विपुल मन्दर हुआ था ।।93।।

क्षीण काया हुई थी मूक सरिता।
चण्डता धारते थे तात सविता।
कहीं कोई न वनपशु दीखता था।
ध्यान मानो सकल वन सीखता था ।।94।।

---

1. वन; 2. वन; 3. निःशब्द।

धनुष थामे रहा बैठा सजग में।
नहीं कोई कहीं था वन्य मग में।
श्रोत्रयुगमध्य केन्द्रीभूत सारा।
रहा चैतन्य क्षण भर को हमारा ।।95।।

कर्णगत हुई तब कुछ सरसराहट।
शुष्क-पर्णोत्थिता कुछ चरमराहट।
वन्य कोई चतुष्पद[1] दीर्घ जाना।
चढ़ा इष्वास[2] पर शर सूत्र ताना ।।96।।

दिशा की नियत अन्तर, आकलन भी।
विचारा अनिल[3] का तत्क्षण चलन भी।
किया निर्मुक्त क्षण में शब्दवेधी।
निशित[4] आशुग[5] चला वह मर्म छेदी ।।97।।

तभी हम्मा ! उठा यह आर्त अति रव।
विदोलित हो उठा तरुकुञ्ज वह नव।
हुआ गतबल सुना जब करुण वह स्वर।
तिरोहित हो गया आखेट का ज्वर ।।98।।

धनुष को फेंक मैं उस ओर धाया।
मृत्यु से जूझती थी धेनु—काया।
अहा कैसे हुआ यह घोर पातक।
बन गया आज यह जन धनु—घातक ।।99।।

न कातर दृष्टि उसकी भूल पाया।
बन गया ग्लानि की मैं पूर्ण छाया।
दौड़ता विप्र फिर उस ओर आया।
अरे शुभदे ! कहाँ यह दण्ड पाया ।।100।।

1. पशु चौपाया; 2. धनुष; 3. वायु; 4. पैना; 5. बाण।

(दोहा)

काँप उठा मेरा हृदय फेंक दिया कोदण्ड[1]।
मिला कर्ण के हाथ से किस निरीह को दण्ड ।।101।।

कौन है वह असुर अति क्रूर पापी।
गहनता पाप की जिसने न मापी।
निरीहों का वधिक वह शस्त्रधारी।
बने अब विप्र का शापाधिकारी ।।102।।

बाण था विप्रवर मैंने चलाया।
भूल से गाय को इस विधि गिराया।
क्षमा हो देव यह अपराध मेरा।
प्रखर अनुताप[2] है मुझको घनेरा ।।103।।

अरे गो घात दोषी ! विप्र बोला।
दृष्टि थी अग्निमय मम चित्त डोला।
नराधम साधुओं का वेश धारे।
निरीहों का हनन करता विहारे ।।104।।

(कुण्डलिया)

क्या असहाय प्रयोज्य ही तेरा शस्त्रज्ञान।
धनुष बाण ही बन गया क्या तेरा भगवान।
क्या तेरा भगवान सकल करुणा त्यागी है।
चीत्काररवप्रिय रक्तिमता का रागी है।
डुबा रही है बुद्धि दुरन्ता मदलहरी क्या।
विप्र धेनु भी समझ लिए तूने वैरी क्या ? ।।105।।

---

1. धनुष; 2. पश्चाताप ।

(कुण्डलिया)

इच्छा तेरी भर गयी चला लिया रव भेद[1]।
कृत्रिम पश्चाताप अब जता रहा है खेद।
जता रहा है खेद न सीखा कुछ दशरथ से।
जाना पाण्डु वृतान्त हटा फिर भी न कुपथ से।
दुहितावतगोवधिक माँगता मुझसे भिक्षा।
बलमदविकृतविवेक व्यर्थ है तुझको शिक्षा ।।106।।

निश्चल है जिस भाँति गो गोगत[2] हो रथचक्र।
तुझ पर उस गोविन्द की भृकुटि पड़ेगी वक्र।
भृकुटि पड़ेगी वक्र सकल गोबल[3] छीजेगा।
इसी भाँति तव शीश रुधिर से ही भीगेगा।
तू है क्रूर किरात कुटिल बनता है अतिबल।
वृद्ध विप्र का छीन लिया है क्षण में सम्बल ।।107।।

चला नतशीश द्विज का शाप ढोता।
फूटता ग्लानि का अविराम सोता।
विपर्ययग्रस्त[4] हर आरम्भ मेरा।
नियतिविप्रलम्भ[5] ही क्या भाग्य मेरा ।।108।।

□□

1. शब्द वेधी; 2. भूमिगत; 3. इन्द्रियों का बल; 4. उल्टा परिणाम देने वाला;
5. भाग्य की बिडम्बना।